अस्मा जहाँगीर

प्रतिरोध का अनवरत प्रयोग

नरेश गोस्वामी

अमन की शहज़ादी, तुम काले बादलों से घिरी रहीं
तुम्हारे रास्ते पर ज़हरीले बल्लम बिछाए गये
मगर तुम आगे बढ़ती रहीं शहर दर शहर
तुम जब मुस्कुराती थीं तो परेशान चेहरे खिल जाते थे।

—किश्वर नाहीद

पाकिस्तान में मानवाधिकारों, स्त्री-अधिकारों और लोकतंत्र की बहाली के लिए ज़िंदगी के आख़िरी क्षणों तक लड़ने वाली अस्मा जहाँगीर (27 जनवरी, 1952–18 फ़रवरी, 2018) की मौत नागरिकता के वैश्विक स्वप्न और भारत-पाक संबंधों में कूटनीति की जगह लोगों की आवाजाही पर ज़ोर देने वाली एक संवादी तान का टूट जाना है।

पूरे जीवन सेना, सामंती-पूँजीवादी अभिजन तथा धार्मिक-राष्ट्रवादी राजनीति का प्रतिवाद करने वाली अस्मा जहाँगीर की सक्रियता केवल अल्पसंख्यकों के अधिकारों की पैरवी और कट्टरतावादी सोच के विरोध तक सीमित नहीं थी। इन सरोकारों के लिए उन्होंने ताउम्र संघर्ष किया। पचास साल के सक्रिय और सार्वजनिक जीवन में उन्होंने ठीक वही किया जो पाकिस्तान के सत्ता-प्रतिष्ठान को सख़्त नापसंद था। सत्रह साल की उम्र में उन्होंने पहली बार पंजाब के गवर्नर के आवास की ओर कूच करती स्त्रियों के मार्च में भाग लिया और पुलिस से दो-दो हाथ किये।

राजनीति के पूर्व-स्थापित ढाँचे को स्वीकार न करने का यह फ़ित्न आख़िरकार वहाँ तक पहुँचा कि स्त्री-अधिकारों और लोकतंत्र के पक्ष में आवाज़ बुलंद करने के लिए फ़ौजी हुक़ूमत के सरबराह ज़िया-उल-हक़ सरकार को उन्हें 1983 में नज़रबंद करना पड़ा। चूँकि अस्मा के लिए सामान्य जनता

के अधिकारों की वकालत और हिफ़ाज़त एक स्थायी सरोकार था, इसलिए 2007 में जब पाकिस्तान के तत्कालीन जनरल-राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ के ख़िलाफ़ लोकतंत्र की बहाली का आंदोलन शुरू हुआ और अस्मा ने इस आंदोलन में शिरक़त शुरू की तो उन्हें एक बार फिर घर की चारदीवारी में क़ैद कर दिया गया।

वे सर्वोच्च न्यायालय की बार कौंसिल की पहली महिला अध्यक्ष थीं। उन्होंने असंगठित क्षेत्र के मज़ूदरों— ख़ास तौर पर ईंट-भट्ठों में काम करने वाले बँधुआ मज़दूरों की मुक्ति के लिए लगातार क़ानूनी जंग लड़ी; 1989 में उन्होंने पाकिस्तान में एक अनौपचारिक मानवाधिकार आयोग की स्थापना की; लाहौर में वीमेंस एक्शन फ़ॉरम की नींव रखी तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए न्यायेतर हत्याओं के संबंध में विशेष रिपोर्ट तैयार की। उन्हें 1995 में मैग्सेसे सम्मान से भी विभूषित किया गया। इन तमाम व्यस्तताओं के बीच उन्होंने *डिवाइन सैंक्शन* और *चिल्ड्रन ऑफ़ लैसर गॉड* नामक दो किताबें भी लिखी।

अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी में अस्मा जहाँगीर का नाम ख़ास इज़्ज़त से लिया जाता था, लेकिन अपने देश के भीतर सैन्य-प्रतिष्ठान और दक्षिणपंथी राजनीतिज्ञों को वे कभी नहीं सुहायीं। कभी उन्हें ग़द्दार कहा गया, तो कभी भारत का एजेंट बताया गया। पाकिस्तान के राष्ट्रवादियों को उनसे हमेशा यह शिकायत रही कि वे देश के अल्पसंख्यकों और स्त्रियों के अधिकारों पर ही क्यों ज़ोर देती रहती हैं। एक ऐसे ही तंज़िया सवाल का उन्होंने बहुत ज़मीनी जवाब दिया था। *हेराल्ड* के पत्रकार से बात करते हुए एक बार उन्होंने कहा था : 'मैं भारत में कश्मीरी अवाम के मानवाधिकारों को लेकर भी दुखी हूँ; मुझे बर्मा के रोहिंग्या समुदाय की नियति पर भी दुख होता है, लेकिन मुझे यह भी आपत्तिजनक लगता है कि ओड़ीशा में ईसाइयों के साथ क्यों नृशंसता हो रही है।'

इशारे में कहें तो अस्मा जहाँगीर जानती थीं कि सवाल करने वाला ही ग़लत सवाल कर रहा है! इसीलिए, इस बातचीत में उन्होंने यह भी साफ़ कर दिया था कि मानवाधिकारों के उल्लंघन के मामलों में उन्हें अपने देश की फ़िक्र इसलिए ज़्यादा है क्योंकि रोज़मर्रा की ज़िंदगी में उनका साबक़ा इन्हीं लोगों से ज़्यादा पड़ता है। इस सिलसिले में उन्होंने यह भी कहा था कि, 'अगर मैं कश्मीरियों के अधिकारों की बात कहती रहूँ, लेकिन यहाँ लाहौर में क़त्ल की गयी औरत के बारे में कुछ न कहूँ तो यह बेमानी होगा'।

अस्मा की मौत एक अंतर्राष्ट्रीय ख़बर इसलिए थी क्योंकि उनके सरोकार केवल अपने देश तक सीमित नहीं थे। उनकी फ़िक्र का दायरा पाकिस्तान या भारत तक सीमित नहीं था। दुनिया में जहाँ कहीं भी धर्म के नाम पर अल्पसंख्यक समूहों का दमन किया गया; अंध-राष्ट्रवाद की आड़ में मनुष्य के मूलभूत अधिकारों पर चोट की गयी, अस्मा जहाँगीर ने इसकी खुले शब्दों में भर्त्सना की।

लेकिन, यह देखना दिलचस्प है कि अस्मा के जनाज़े में ऐसे लोग भी शामिल हुए जिनका उनके विचारों, मूल्यों और नज़रिये से दूर-दूर तक वास्ता नहीं था। यह दरअसल, मीडिया द्वारा किसी की प्रतिबद्धता को लोकप्रिय बना देने का क्षण था। मीडिया ने उनका गुणगान करते हुए चंद दिनों के लिए उन पर देवत्व का लेप चढ़ा दिया। अस्मा की इन छवियों से यह पता नहीं चलता था कि एक नागरिक के रूप में उनकी क्या बेचैनियाँ थीं; धर्म और तानाशाही के रिश्ते को वे कैसे देखती थीं और मोटे तौर पर स्त्री-अधिकारों की चेतना से रिक्त अपने समाज में स्त्रियों की आज़ादी और अधिकारों की बात क्यों करती थीं?

अस्मा का मानना था कि भारत और पाकिस्तान सहित समूचे दक्षिण एशिया में जातीयताओं, धार्मिक अल्पसंख्यकों या सशस्त्र संघर्ष की समस्या आर्थिक वंचना में छिपी है। वे मानवाधिकार के प्रश्न को राजनीति से परे नहीं मानती थीं। उनका कहना था कि मानवाधिकारों को राजनीतिक प्रक्रिया से जोड़ कर देखा जाना चाहिए क्योंकि दक्षिण एशिया के भू-भाग में हर जगह अलग-अलग जातीय

अस्मा की मौत एक अंतर्राष्ट्रीय ख़बर इसलिए थी क्योंकि उनके सरोकार केवल अपने देश तक सीमित नहीं थे। उनकी फ़िक्र का दायरा पाकिस्तान या भारत तक सीमित नहीं था। दुनिया में जहाँ कहीं भी धर्म के नाम पर अल्पसंख्यक समूहों का दमन किया गया; अंध राष्ट्रवाद की आड़ में मनुष्य के मूलभूत अधिकारों पर चोट की गयी, अस्मा जहाँगीर ने इसकी खुले शब्दों में भर्त्सना की।

समुदाय पाए जाते हैं। इसलिए उनका कहना था कि जातीय भिन्नताओं के बीच संतुलन पैदा करने के लिए राजनीतिक व्यवस्था— लोकतांत्रिक संरचनाओं को अलग ढंग से संवेदनशील होने की दरकार है। उनके अनुसार इस क्षेत्र के समस्त देशों में क़ानूनी संस्थाओं का एक ऐसा कारगर ढाँचा बनाया जाना चाहिए कि लोगबाग़ केवल अपनी सरकारों से ही नहीं बल्कि समाज के अन्य संगठित समूहों और व्यक्तियों के सामने भी अपने अधिकारों की दावेदारी कर सकें। इस तरह, अस्मा जहाँगीर व्यक्ति के निजी अधिकारों को सामुदायिक अधिकारों से ज़्यादा तरजीह देती थीं। उनका स्पष्ट मानना था कि व्यक्ति के अधिकारों के बजाय समुदाय के अधिकारों को ज़्यादा महत्त्व देना उक्त समुदाय के वंचित सदस्यों के लिए नुक़सानदेह होता है।

उनका विचार था कि वैश्वीकरण के बाद राष्ट्रीय सम्प्रभुता की अवधारणा इस बिंदु के इर्द-ग़िर्द सिमटने लगी है कि कोई देश अपनी सीमाओं के भीतर रह कर आर्थिक और प्रौद्योगिकीय क्षेत्रों में किस स्तर का प्रदर्शन करता है। उनके मुताबिक़ दक्षिण एशिया के देशों का एक साझा संकट यहाँ की अशांति है जिसके चलते कोई भी देश अपनी पूरी क्षमता का उपयोग नहीं कर पाता। इस संकट को दूर करने के लिए उन्होंने दक्षिण एशियाई देशों में एक साझे न्यायालय या कम से कम एक आयोग स्थापित करने का प्रस्ताव रखा था।

पाकिस्तान की आंतरिक राजनीति के बारे में अस्मा जहाँगीर की राय बड़ी बेबाक़ थी। उनका कहना था कि पाकिस्तान का सत्ता-प्रतिष्ठान अभी तक शीत-युद्ध की मानसिकता से बाहर नहीं निकल पाया है, लिहाज़ा उसकी विदेश, रक्षा और प्रतिरक्षा संबंधी नीतियाँ आज भी उसी दृष्टिकोण से संचालित हो रही हैं। उनके अनुसार अफ़ग़ानिस्तान की समस्या के दौरान पाकिस्तान शीत-युद्ध के एक सहयोगी की भूमिका में इस क़दर लिप्त हो गया कि उसने अपने आर्थिक भविष्य के बारे में लगभग सोचना ही छोड़ दिया। इसलिए, आज वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच गया है जहाँ उसकी राजनीति सुरक्षा के मुद्दे से आगे नहीं बढ़ पाती।

अस्मा का मानना था कि दक्षिण एशियाई क्षेत्र के देशों की सरकारों और उनकी जनता के बीच का फ़ासला बढ़ता जा रहा है। उन्हें लगता था कि इन देशों की सरकारों और जनता के हितों के बीच एक टकराव पैदा होता जा रहा है। यहाँ उनका आशय दक्षिण एशियाई क्षेत्र के उस शक्तिशाली वर्ग से था जो किसी भी क़िस्म की राजनीतिक व्यवस्था में अपने हितों को सुरक्षित रखने की तरक़ीब जानता है।

भारत और पाकिस्तान जैसे देशों में क़ानूनी संरचनाओं की अंतर्निहित कमज़ोरियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने एक बार कहा था कि इन देशों की क़ानूनी प्रक्रियाएँ नैतिकता से अलग-थलग पड़ गयी हैं। इस मामले में वे पश्चिमी देशों के लोकतंत्र की तारीफ़ करती थीं, जहाँ उनके अनुसार क़ानून को नैतिकता तथा नैतिकता को क़ानून के संदर्भ में आँकने का नज़रिया लगभग एक संस्था का रूप ले चुका है। इस प्रसंग में अस्मा पश्चिम के मानवाधिकार आंदोलन का उदाहरण दिया करती थीं। उनके मुताबिक़ इन देशों में मानवाधिकारों से जुड़ी संस्थाएँ नैतिक दबाव का संगठित ढंग से उपयोग करती हैं :

> इसके लिए वहाँ मानवाधिकार आयुक्त की नियुक्ति और मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाओं पर

> रपट तैयार करने जैसे उपायों की सहायता ली जाती है और इस तरह उत्तरदायी संस्थाओं पर धीरे-धीरे व क्रमबद्ध ढंग से दबाव बनाया जाता है; जबकि भारत और पाकिस्तान जैसे देशों में यह पूरी मुहिम विरोध-प्रदर्शन से आगे नहीं बढ़ पाती।

अस्मा जहाँगीर ने पाकिस्तान में 1989 में जिस मानवाधिकार आयोग का गठन किया था, वह मूलत: एक ग़ैर-सरकारी क़िस्म की संस्था थी। लेकिन, उन्हें इस बात की साफ़ समझ थी राजनीति का विरोध करके ऐसा कोई प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता। इसलिए, एक संस्था के तौर पर राजनीतिक पार्टी का विकल्प ढूँढ़ने की कोशिश करना उन्हें एक व्यर्थ की क़वायद लगती थी। इसके बजाय, वे इस नुक़्ते पर ज़ोर देती थीं कि राजनेताओं के ऊपर दबाव बनाए रखना जन-राजनीति का सबसे अहम काम होता है।

अपनी पूरी ज़िंदगी सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता के नाम करने के बावजूद अस्मा जहाँगीर इस सच्चाई को जानती थीं कि एकाध अपवाद को छोड़ कर दक्षिण एशिया की राजनीति अक्सर पितृसत्तावादियों और परम्परा के हाथों में खेलती रहती हैं। इसलिए, यहाँ औरतों की ग़ैर-बराबरी जैसे मुद्दे तथा लोकतांत्रिक चेतना के फैलाव की बातें राजनीतिक प्रक्रिया का निर्णायक अंग नहीं बन पाती। सत्ता के स्त्री-विरोधी और भ्रष्ट चरित्र से उनका साबक़ा 1983 में ही पड़ चुका था। ज़िया-उल-हक़ की फ़ौजी हुक़ूमत के ख़िलाफ़ जब अस्मा जहाँगीर जैसी स्त्रियों ने प्रदर्शन किया तो शासन और उसके समर्थक मीडिया ने उन्हें रातों-रात आवारा, लम्पट और चरित्रहीन घोषित कर दिया था। उनके विरुद्ध इतना घृणास्पद प्रचार किया गया कि सामान्य स्त्रियाँ उनसे कतराने लगीं। अस्मा के ज़ेहन में ये सारे तजुरबे दर्ज थे। इसलिए, बदलाव की बात करते हुए वे कभी बड़बोलेपन का शिकार नहीं होती थीं।

अपनी पूरी ज़िंदग़ी सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता के नाम करने के बावजूद अस्मा जहाँगीर इस सच्चाई को जानती थीं कि एकाध अपवाद को छोड़ कर दक्षिण एशिया की राजनीति अक्सर पितृसत्तावादियों और परम्परा के हाथों में खेलती रहती है। इसलिए, यहाँ औरतों की ग़ैर-बराबरी जैसे मुद्दे तथा लोकतांत्रिक चेतना के फैलाव की बातें राजनीतिक प्रक्रिया का निर्णायक अंग नहीं बन पाती।

एक तरह से कहें तो उनका सक्रिय जीवन प्रतिरोध का निज़ाम क़ायम करने का एक अनवरत प्रयोग था। लेकिन इस प्रयोग में वे अकेली नहीं थीं। पाकिस्तान की नारीवादी कार्यकर्ता मरियम हुसैन ने उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए कहा है :

> उन्हें प्रतिरोध के प्रतीक या मशाल की तरह याद रखा जाना चाहिए, लेकिन इसी के साथ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 1983 की गिरफ़्तारी और लाठी चार्ज के वक़्त वे अकेली नहीं थीं। उनके साथ बहुत सी अनाम औरतें खड़ी थीं। इसलिए, जब हम यह कहते हैं कि अस्मा एक बेमिसाल शख़्सियत थीं या वे हमारे आदर्शों का एकमात्र प्रतीक थीं तो हम शायद ऐतिहासिक तथ्यों और सामूहिकता की ताक़त के साथ अन्याय कर रहे होते हैं। अगर हम ऐसा कहते हैं तो हम अनजाने उन नामालूम लोगों की हिम्मत और जज़्बे का अपमान कर रहे होते हैं जिनसे एक अन्यायी व्यवस्था ने उनकी पहचान छीन ली है। इसलिए, अस्मा को याद करते हुए हमें अपनी मौजूदगी का भी ख़याल रखना चाहिए। अस्मा आज हमारे बीच मौजूद नहीं हैं, लेकिन अपनी मुहिम और लड़ाई के साथ हमें अगले दौर तक ज़िंदा रहना है। आज जब अस्मा अपनी भौतिक देह से दूर जाकर हमारे सामूहिक संघर्ष का प्रतीक बन चुकी हैं, तो हमें इस प्रतीक का दैवीकरण नहीं करना चाहिए।